नाटकों के मंचीय प्रस्तुतीकरण में संगीत के विभिनन रूपों का प्रयोग

Teena Chawla

भरतमुनि के समय से ही नाटक की विभिन्न कला प्रकारों से सम्पन्न बनाने के प्रयास चलते आए हैं। कला का मूल आधार ही जीवन की विविधताओं का समावेष है। जिसकी रंजक प्रस्तुति ही नाटक की प्रमुख शर्त है। भरतमुनि ने संगीत को नाटक का स्वतंत्र तत्व के रूप में ग्रहण न कर, वातावरण सृजन के उपांग के रूप में ग्रहण किया है।

राधावल्लभ त्रिपाठी अपने लेख "भरतमुनि के बारे में" कहते हैं– "रंगमंच संगीत से आरम्भ किया जाता है। गीत के साथ वाद्य का भी प्रयोग होता है। गायन और वादन में स्वरों का प्रयोग होता है। तद्नुसार प्रवृतियाँ, वृत्तियाँ, धर्म और अभिनय का उपयोग करते हुए भावों के रस तक पहुँचा जाता है।"[1]

भा.वा. आव्वले ने इसी विषय में कहा है – "गायन आँखें मूँदकर सुनने से हमारे सामने एक चित्र उभरता है, स्वरों के उतार–चढ़ाव के अनुसार मन में उसकी एक आकृति बन जाती है।"[2]

संगीत कला की इसी शक्ति को जानकार नाटककारों ने नाटकों में गीत योजना की जिसके माध्यम से कुछ अदृष्य भावों को सरलता से दर्शकों के मस्तिष्क तक पहुँचाया जा सके। पारसी थियेटर का तो यह प्राणतत्त्व ही बन गया। प्रसाद ने भी नाटकों में गीत योजना की। विभिन्न तालों एवं स्वरों का भी यथावत् निरूपण किया। प्रसाद के पश्चात् नाटक में यथार्थवाद आया, जिससे संगीत का प्रयोग अत्यधिक होने की अपेक्षा वातावरण निर्माण, नेपथ्य में से, किसी चरित्र के भावों का प्रदर्षन इत्यादि में होने लगा। अत्याधिक नाटककारों के अधिकाषं नाटकों में संगीत का प्रयोग पार्ष्व में वातावरण निर्माण हेतु होने लगा है। शास्त्रीय संगीत का प्रयोग बहुत ही कम रूप में दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी नाटककारों ने नाटकों में गीत तो रखे हैं परन्तु अधिकतर नाटकों ने उसके साथ रागों का निर्देष नहीं दिया है। इसी तथ्य को अधिकतर आलोचक स्वीकार करते है, परन्तु अधिकतर नाटकों ने उसके साथ रागों का निर्देष नही दिया है। इसी तथ्य को अधिकतर आलोचक स्वीकार करते है, परन्तु कहीं–कहीं इसका अपवाद भी मिलता है।

ब्रजरत्नदास ने "भारतेतन्दु नाटकावली" में नाटय संगीत की चर्चा करते हुए कहा है – "भारतेन्दु ने अपने नाटकों में गीत तो दिए है, परन्तु रागों का निर्देष अधिक अंष में नही दिया। प्रसंग के अनुकूल गजल, ठुमरी तथा विहाग, शंकरा, काफी, धनाश्री, चैती गौरी, कालिंगड़ा, लावनी, झिंझौटी, जंगला, बहर, सोरठ, भैरव, पूर्वी आदि रागों तथा धमार, त्रिपाल, बाडल भजन की चाल पर आड़ा आदि का प्रयोग यत्र–तत्र देखने को मिलता है। नेपथ्य गीत के अन्तर्गत वाद्य ध्वनियां का विधान अधिक दृष्टिगोचर होता है। इसके साथ–साथ राग–रागनियों के साथ वाद्य तथा नृत्य का भी समावेष देखने को मिलता है।"[3]

गौरतलब है कि गीतों को गायन स्वरबद्ध तरीके से होता आ रहा है। अतः वह निर्देषक तथा नाटककार पर निर्भर अधिक करता है कि वह किन स्वरों का चयन कर गीत को स्वरबद्ध करें। कहीं–कहीं निर्देषक आवष्यकतानुसार नाटककार के नाटक में किए निर्देषों को परिवर्तित भी कर सकता है। नाटक में राग तथा ताल का प्रयोग नाटक की प्रवृर्ति पर निर्भर करता है अगर नाटक का कथानक पाष्चात्य सभ्यता के अनुकूल है तो उसमें संगीत की पाष्चात्य सभ्यता के अनुकूल प्रयोग किया जाएगा, अगर नाटक पारम्परिक भावनाओं के समावेष वाला है, तो उसमें पारम्परिक वाद्ययन्त्रों तथा गायन शैली का प्रयोग ही अपेक्षित माना जाता है। अतः 'नाटक में संगीत का चयन कथावस्तु पर निर्भर करता है।

"आधुनिक युग में नाटककार की अपेक्षा निर्देषक के लिए यह स्वतन्त्रता दी गई है कि वह नाटक में संगीत का निर्माण राग एवं ताल को ध्यान में किया जाता है।"[4] नाट्य प्रस्तुतीकरण में संगीत को एक सहायक के रूप में लिया जाता है, परन्तु अगर संगीत को नाटक का प्रमुख सहायक कहा जाए तो अतिषयोक्ति नहीं होगी।

नाटक में संगीत के प्रयोग को इस प्रकार से समझा जा सकता है –

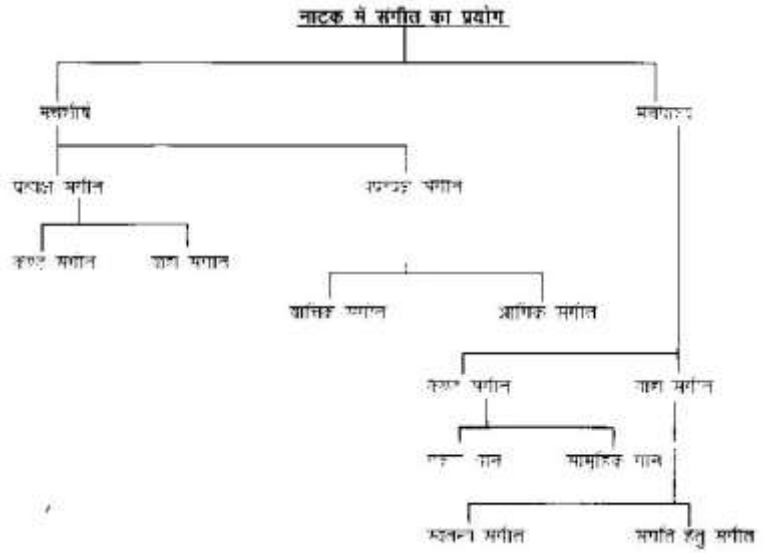

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि नाटक में संगीत का प्रयोग भिन्न–भिन्न रुप में हो सकता है।

नाटक में संगीत का प्रयोग संगीत निर्देषक अपने अनुभवों के आधार पर करता है। कथावस्तु के अनुरुप जहाँ–जहाँ संगीत का प्रयोग अपेक्षित होता है, वही संगीत का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन काल में (संस्कृत नाटकों में) पूर्वरंग का विधान था, जिसमें संगीत का प्रयोग नियमों के अनुकूल करने की प्रथा थी, परंन्तु वर्तमान युग में ऐसा नही है। आधुनिक युग में रंगमचीय प्रस्तुतीकरण के लिए नाटक की रचना एवं मंच की अनुदृष्टि में संगीत प्रभाव को लोकरंग के एक तत्त्व रूप में स्वीकार किया गया है।

हरिष्चन्द्र खन्ना ने नाटकों में संगीत के प्रयोग में निर्देषक की भूमिका स्पष्ट करते हुए कहा– "वास्तव में संगीत का प्रयोग नाटककार की अपेक्षा निर्देषक पर अधिक निर्भर करता है। यह निर्देषक पर है कि वह कहाँ–कहाँ संगीत को कौन–कौन सा रुप प्रयोग करना चाहता है।"[5] संगीत का प्रयोग नाटक में कहाँ–कहाँ, कब–कब तथा किस–किस रुप में करना चाहिए, इसके लिए भिन्न–भिनन मत दिए गए है। यथा –

डॉ. विष्वनाथ ने – "रिक्तातापूर्ति, अलंकरण, भावोद्दीपन, कथा विकास, कार्यव्यापार के लिए संगीत का प्रयोग बताया।"[6]

नाटक में 'गीत' का प्रयोग कंठ संगीत का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। भाव–प्रदर्षन के लिए गीत प्रस्तुत किए जाते हैं। कभी–कभी ये गीत एक ही व्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत होते हैं, जिसका प्रभाव तथा सम्बन्ध उसी व्यक्ति से होता है, परन्तु कभी–कभी गीत समूह द्वारा प्रस्तुत किए जाते है तो कई बार कुछ समय के लिए नाटकों को विराम देकर कोरस गायन, परिस्थिति व स्थिति से सम्बन्ध रखता हुआ नाटक के विषय में चर्चा करता है।

डॉ. शान्ति मलिक के कथानुसार – "सहगान के रूप में गीतों का प्रयोग पाया जाता है। वृन्दगान या गीत, ट्रैजडी का अभिन्न अंग माना गया है पाष्चात्य नाटकों के आरम्भ में कोरस गायन रखने का विधान है, जिसको सहगान के रूप में लोग गाते हैं।"[7]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नाटक के लिए संगीत अत्यधिक आवष्यक है, जिसे नाट्य संगीत, रंग संगीत या नाटक का संगीत इत्यादि नामों से पुकारा जाता है, परन्तु अधिकतर गुणीजन रंग–संगीत शब्द को ही उपयुक्त मानते है। नाटक में संगीत का स्वतन्त्र असतित्व नहीं है, वह सम्पूर्णतः रंग और नाटकापेक्षी है।

सन्दर्भ :–

1– रंगप्रसंग (पत्रिका) – जनवरी–जून 2003, पृ0 185

2– डॉ. भा.वा. आठवले – संगीत कला विहार (पत्रिका) लेख – अगस्त 2004

3– ब्रजरत्नदास – भारतेन्दु नाटकावलि

4– लोकेन्द्र त्रिवेदी – साक्षात्कार – 27 मई, 2005

5– हरिष्चन्द खन्ना – रेडियो नाटक, पृ. 156

6– डॉ. विष्वभावन देवलिया – नाट्य प्रस्तुतीकरण स्वरूप एवं प्रक्रिया, पृ0 229

7– शान्ति मलिक – हिन्दी नाटकों की षिल्पविधि का विकास, पृ. 480